

शिक्षा में बदलाव का सवाल

□ सुरेश पंडित

अनिल सदगोपाल प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण को लेकर राष्ट्रीय स्तर पर चली बहसों में अपने गंभीर हस्तक्षेप के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने शिक्षा नीतियों पर गंभीर सवाल उठाते हुए शिक्षा के सार्वजनीकरण को लेकर राज्य की इच्छा शक्ति को ही प्रश्नित किया है। नीति निर्माण समिति के अंदर रहते हुए भी उन्होंने अपनी असहमति को दर्ज करायी। होशंगाबाद में किशोर भारती शिक्षा-प्रयोग के रूप में उन्होंने एक विकल्प रखा। सदगोपाल ने व्यापक जन आन्दोलनों में सक्रिय भागीदारी की है। इसलिए उनके विचार किनारे बैठे किसी अकादमिक से विपरीत ऊर्जस्व और आवेगपूर्ण हैं, जो अब पुस्तक रूप में सामने आये हैं।

मानवीय ऊर्जा और भौतिक संसाधनों का प्रारंभिक शिक्षा में निवेश यद्यपि सालों बाद फल देता है लेकिन एक राष्ट्र के जीवन और विकास में उसका महत्व अतुलनीय होता है। इसलिये हर बच्चे को निशुल्क प्रारंभिक शिक्षा देना प्रत्येक देश के लिए चाहे वह किसी भी सिद्धांत को मानता हो, और वहां कैसी भी शासन प्रणाली हो, अपरिहार्य कर्तव्य होता है। इस तरह की शिक्षा वर्ग, जाति, वर्ण, भाषा, क्षेत्र, समुदाय, लिंग और शारीरिक या मानसिक विकलांगता के भेदभाव को दूर रख कर दी जाती है। “शिक्षा में बदलाव का सवाल” में अनिल सदगोपाल इस और ऐसे ही कुछ अन्य सवालों से आमने सामने मुठभेड करने की कोशिश करते हैं। कैसे शिक्षा मंत्रालय मानव संसाधन विकास मंत्रालय में बदल गया? कब से भारतीय संविधान की धारा - 45 के अनुसार 6 से 14 आयु वर्ग के बच्चों को दी जाने वाली प्रारंभिक शिक्षा को दरकिनार कर 6 से 11 आयुवर्ग के लिये प्राथमिक शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा? कैसे आजकल सरकार में से हर कोई देश के सभी बच्चों के लिए सार्थक स्कूली शिक्षा के अधिकार की बात न कर अनौपचारिक शिक्षा या साक्षरता अभियान के जरिये साक्षरता के स्तर को ऊंचा उठाने की बात कर रहा है? कब से राष्ट्रीय साक्षरता मिशन ने प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम को नौ वर्ष से ऊपर के बालकों के लिये भी खोल दिया और इसमें उन्हें रोजी देकर बाल श्रमिक बनाने देने वालों के लिये किस प्रकार का संदेश दिया? भारत में वैश्वीकरण और दस करोड बाल श्रमिकों के बीच क्या संबंध है? और क्यों सब बच्चों के लिये सरकारी स्कूल एक सामान्य स्कूली व्यवस्था में नहीं

बदले जा रहे हैं? ऐसे सवालों के निहितार्थ जानने के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहे हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के मौलाना आजाद सैन्टर फॉर

एलीमेन्ट्री एन्ड सोशल एजुकेशन में शिक्षा विभाग के डीन और हैड डा. अनिल सदगोपाल मोलेक्यूल् बाइलोजिस्ट के रूप में यूनाइटेड स्टेट्स के ‘कैलिफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी से प्रशिक्षण प्राप्त हैं और मुंबई के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फन्डामेन्टल रिसर्च’ में कार्य कर चुके हैं। वनखेडी होशंगाबाद मध्य प्रदेश में 1971 में किशोर भारती नाम की संस्था की स्थापना करने वाले अनिल सदगोपाल ने इसी के माध्यम से ग्रामीण शिक्षा और विकास के क्षेत्र में अनेक बहुआयामी और सृजनात्मक प्रयोग किये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने अपनी विचार सामग्री को छह खण्डों में बांट कर अठारह लघु निबंधों द्वारा स्कूली एवं अनौपचारिक शिक्षा से संबंधित अपने चिन्तन को संजोया है।

वे कहते हैं कि शिक्षा नीति निर्माण की राजनीति भी उसी तरह वैज्ञानिक जांच पडताल की अपेक्षा रखती है, जिस तरह ओजोन पर्त में छिद्र का होते चले जाना एक गंभीर मुद्दा है। वे न केवल विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में भौतिक और सामाजिक विज्ञान के बीच बढ़ती दूरी को ही ध्वस्त करते हैं बल्कि दृढ़तापूर्वक यह बात भी करते हैं कि किसी सामाजिक परिघटना का अध्ययन तब तक अधूरा रहता है जब तक उसके साथ भावनाओं का अहसास न जुड़ा हो। इसका अभिप्राय यह है कि किसी सामाजिक गतिविधि से

शिक्षा में

बदलाव का सवाल

लेखक - अनिल सदगोपाल

उत्पादित भावनाओं का तथ्यों के स्रोत के रूप में अपना अलग ही महत्व होता है। वे मानते हैं कि किसी समाज वैज्ञानिक को अनुभूतिजनित किन्तु पक्षपातरहित भावना से मुंह नहीं मोड़ना चाहिये।

अनिल सदगोपाल हमेशा हर तरह से यह प्रयास करते रहे हैं कि भारत सरकार अपनी शिक्षा के प्रति उदासीनता का परित्याग करे और उसे पूरी तरह से बदल डालने की तत्परता दिखाये। वे शैक्षिक परिवेश को इस तरह की शकल देना चाहते हैं जिसमें प्रारंभिक शिक्षा एक मौलिक अधिकार के रूप में मान्य हो। इस समय स्थिति यह है कि कोई भी अभिभावक अपने बच्चे के लिए सरकार द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने का मुद्दा लेकर न्यायालय के दरवाजे नहीं खटखटा सकता। वे लोगों को अपने शिक्षा संबंधी अधिकार के लिए संघर्ष करने के पक्ष में रहे हैं। 'किशोर भारती' के जरिये उन्होंने ऐसे प्रयोग किये जिनसे कृषिकार्य में लगे श्रमिक मौसम की मार के कारण देश के अन्य भागों में जाने को मजबूर न हों। अपने कृषि और पशुपालन के धंधे में कारगर सुधार कर सकें। इसके लिए ये उन्होंने शिक्षा के नवाचारों को विशेष महत्व दिया। खास तौर पर विज्ञान शिक्षण को ग्रामीण परिवेश के अनुकूल बनाने के लिए उन्होंने अनेक प्रयोग किये।

गांधी जी के काम की दुनिया को ज्ञान की दुनिया से जोड़ने के सिद्धांत से प्रेरणा लेकर उन्होंने पाठ्यचर्या के विकेन्द्रीकरण की ओर कदम उठाये और स्थानीय परिवेश तथा समुदाय से जुड़कर प्राप्त हुए अनुभवों से समृद्ध होने की बात अध्यापकों के सामने प्रभावशाली ढंग से रखी। अध्यापकों और विद्यार्थियों को सवाल पूछने, प्रयोग करने और शिक्षण प्रक्रिया में सहभागिता निभाने पर जोर दिया। शिक्षण के लिये नये विचारों और सहायक सामग्री के प्रयोग को उन्होंने अनिवार्य माना। होशंगाबाद में उन्होंने अल्पमौली किन्तु तीव्र प्रभावशाली शैक्षिक उपकरण तैयार किये और उनकी सहायता से ग्रामीण बच्चों को विज्ञान सिखाने के प्रयोग किये। उनमें मिली आश्चर्यजनक सफलता से उत्साहित हो उन्होंने किशोर भारती के अपने साथियों के साथ बाकायदा एक विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम चलाया जो धीरे धीरे सारे मध्य प्रदेश के मिडिल स्कूलों में फैल गया। और इसे विज्ञान के साथ सामाजिक विज्ञान व भाषा शिक्षण

के लिये भी इस्तेमाल में लाया जाने लगा। 'होशंगाबाद साइंस टीचिंग प्रोग्राम (एच एस टी पी) के अन्तर्गत काम करने वाले शिक्षकों के लिए अवलोकन ओर प्रयोग केवल खोखले शब्द नहीं मार्गदर्शक शब्द बन गये हैं। इस तरह शिक्षण शास्त्र पर एक नई बहस की शुरुआत हुई। 1990 के आरंभ में इन्होंने शिक्षा की जगह साक्षरता को महत्व दिये जाने के सरकारी प्रयत्नों का विरोध शुरू किया और इस तरह सामाजिक न्याय के प्रति अपने गहरे जुड़ाव को प्रमाणित किया। वे आज भी मानते हैं कि बच्चे के स्कूली अनुभवों से ही सामाजिक न्याय के प्रति जागरूकता पैदा होती है। इसलिये स्कूल से बच्चे को अलग रखना उसके साथ अन्याय करना है।

हिन्दुस्तान की स्कूली व्यवस्था में व्याप्त असमानता का वे सदा से विरोध करते रहे हैं। वे मानते हैं कि विभिन्न प्रकार और स्तर के चलन में आ रहे स्कूलों में धनाभाव ग्रस्त और नौकरशाही से पीडित सरकारी स्कूल हर तरह से निम्न स्थान पर है। इसका माहौल कुछ इतना

धनाभाव ग्रस्त और नौकरशाही से पीडित सरकारी स्कूल हर तरह से निम्न स्थान पर है। इसका माहौल कुछ इतना उबकाऊ है कि गरीब से गरीब बच्चे भी वहां जाना पसंद नहीं करते। उनका उपयोग केवल एक गंदे शिशु गृह (केश) की तरह होता है जिसमें मां बाप काम पर जाते समय अपने बच्चे छोड़ जाते हैं। वह भी केवल कुछ वर्षों के लिए। बाद में ये बच्चे स्वयं काम पर जाने लग जाते हैं।

उबकाऊ है कि गरीब से गरीब बच्चे भी वहां जाना पसंद नहीं करते। उनका उपयोग केवल एक गंदे शिशु गृह (केश) की तरह होता है जिसमें मां बाप काम पर जाते समय अपने बच्चे छोड़ जाते हैं। वह भी केवल कुछ वर्षों के लिए। बाद में ये बच्चे स्वयं काम पर जाने लग जाते हैं। केवल गरीबी ही बच्चों को पढ़ाई से वंचित नहीं करती, ये स्कूल भी करते हैं। इस तरह अनिल सदगोपाल बच्चों के सरकारी स्कूल में जाने को उनके समय की पूरी तरह से बर्बादी मानते हैं। जिसके पास थोड़ी सी भी गुंजाइश होती है वह प्राइवेट या कान्वेंट स्कूल में पैसा देकर पढ़ाना पसंद करते हैं। परिणाम यह है कि लगभग आधे बच्चे स्कूलों से बाहर हैं और उनमें दो तिहाई लड़कियां हैं। इन स्कूलों पर होने वाला खर्चा अनार्थिक माना जाने लगा है। पैसे की यह बरबादी आर्थिक सुधारों के इस जमाने में घोर अनुचित मानी जाने लगी है। इसलिए इन स्कूलों पर बन्द होने का खतरा मंडराने लगा है।

डा. सदगोपाल, जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति निर्माण एवं परिवर्तन संबंधी विभिन्न आयोगों एवं समितियों के सदस्य रहे हैं, कहते हैं कि बुनियादी शैक्षिक अवसरों की समानता की बात को सिद्धांततः

स्वीकारते हुए भी जब जब इसे लागू करने का मौका आता है, कार्यपालक शक्तियों द्वारा इसे निष्प्रभावी बना दिया जाता है। इस विचलन को सरकार भी कभी गंभीरता से नहीं लेती। इस तरह कुछ लोग शुरू से ही बेहतर शैक्षिक अवसरों को हथिया लेते हैं, और शेष लोग देखते ही रह जाते हैं। सामाजिक विषमताओं का बीजारोपण स्कूली शिक्षा में आरंभ से ही हो जाता है। 1990 में जोमतीन में हुई 'इंटरनेशनल कांफ्रेंस ऑन एज्यूकेशन' में भारतीय शिक्षा के इतिहास को जो सबसे घातक मोड़ दिया गया, वह था भारत सरकार का प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनिकरण के लक्ष्य से मुकर जाना। इससे पहले तक वह स्वयं को शिक्षा के मामले में संविधान के प्रति उत्तरदायी मानती थी लेकिन बाद में इसने वैश्वीकरण की ताकतों के सामने घुटने टेक दिये।

शिक्षा नीति का यह जो यथास्थितिवाद है, इसका कारण प्रशासकीय अयोग्यता, भ्रष्टाचरण या क्रियान्वयन की असफलता मात्र ही नहीं है। सद्गोपाल जोर देकर कहते हैं कि इसके पीछे शासक और अभिजातवर्ग के अच्छी तरह से सोचे समझे इरादे भी हैं। वे किसी कीमत पर यह नहीं चाहते हैं कि आम लोग भी वैसी ही शिक्षा पाकर उनके बराबर आ बैठें और उनसे जवाब तलब करने लगे। वे नहीं चाहते कि विकास के लाभों में से ये लोग भी अपना हक मांगने लगे। इस देश का शिक्षित वर्ग निरक्षरों के पढ़ने लिखने के बारे में कतई सचेष्ट नहीं रहा है। वह नहीं चाहता की गरीब बच्चे भी उनके बच्चों जैसी शिक्षा पाकर प्रतियोगिता में उनके बच्चों को पछाड़ दें। दिखावे के लिये कुछ टुकड़े आरक्षण कोटा के रूप में आम लोगों की ओर फेंके जाते हैं जिन्हें कमजोर तबकों में से जो सबसे ताकतवर होते हैं वे लूट ले जाते हैं। इस तरह कुछ वंचित लोग सुविधा संपन्न बन जाते हैं। दरअसल पढ़े लिखे मध्यम वर्ग को ऐसे लोगों की भी तो जरूरत रहती है जो उनकी विभिन्न प्रकार की सेवा संबंधी जरूरतों को पूरा कर सकें। यदि सभी लोग एक जैसी शिक्षा पा जायेंगे तो उनके ये काम कौन करेगा। इसलिए वे सरकारी स्कूलों या अस्पतालों को ऐसा ही बनाये रखना चाहते हैं। वे टैक्स देकर भी इन सरकारी सेवाओं को इन लोगों के लिये जारी रखना चाहते हैं ताकि

कल्याणकारी राज्य का दिखावा होता रहे और इनकी सुविधाओं को भी आंच न आये। वे ऐसे कई उदाहरण देते हैं जिनसे नौकरशाहों, राजनेताओं व्यापारियों और बुद्धिजीवियों की इस तरह की मनोवृत्तियों को देखा जा सकता है। अन्तराष्ट्रीय दानदाता संस्थाएं भी इस व्यवस्था को बनाए रखने में ही अपना हित देखती हैं। विश्व बैंक

और अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष हर तरह से सामाजिक खर्चों को कम से कम करते जाने के लिए विकासशील देशों की सरकारों पर दबाव डालते रहते हैं। डिस्ट्रिक्ट प्राइमरी एज्यूकेशन प्रोग्राम (डीपीईपी) साक्षरता और अनौपचारिक शिक्षा जैसे कार्यक्रम जिन्हें एक चमत्कारिक प्रयोग के रूप में प्रचारित किया जा रहा है प्रारंभिक शिक्षा के उस सार्वजनिकरण से लोगों का ध्यान हटाने के उपाय हैं जिसकी गारंटी हमारा संविधान देता है।

डा. सद्गोपाल स्पष्ट शब्दों में कहते हैं - " मैं इस बात को कतई मानने की तैयार नहीं हूँ कि भारत जैसे बड़े देश के पास इतना पैसा नहीं है कि वह अपने

बच्चों को न पढ़ा सके और इसके लिए उसे अन्तराष्ट्रीय स्तर पर याचना करनी पड़े। कोई राष्ट्र जो इतने महत्वपूर्ण कार्य के लिए अपनी आर्थिक प्राथमिकताओं को नहीं बदल सकता, वह विदेशों से धन मांगकर या उधार लेकर भी इस काम को पूरा नहीं कर सकता।"

अन्त में वे समुदाय पर ही अपनी आशाएं टिकाते हैं। वे कहते हैं किसी समुदाय की पहल ही अब स्कूल को समाज के केन्द्र में लायेगी। वे एक ऐसी सामान्य स्कूली व्यवस्था (जिसे वे 'लोकशाला' कहते हैं) की कल्पना करते हैं जो सरकार के खर्च और स्थानीय समुदाय के प्रशासन से चलेगी। इसमें हर बच्चे को एक जैसी शिक्षा दिये जाने की गारंटी रहेगी। यह प्रयोग शुरू हो चुका है, जल्दी ही इसके अपेक्षा से अधिक उत्साहजनक परिणाम आने वाले हैं। इस प्रकार यह पुस्तक एक बार पुनः स्कूल को समुदाय के सहयोग से समाज के केन्द्र में लाने का एक सुविचारित प्रयास है। आशा है शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था से चिन्तित और इसके विकल्प से अनभिज्ञ लोगों को यह पर्याप्त राहत व दिलासा देगी। ♦

डा. सद्गोपाल स्पष्ट शब्दों में कहते हैं - " मैं इस बात को कतई मानने की तैयार नहीं हूँ कि भारत जैसे बड़े देश के पास इतना पैसा नहीं है कि वह अपने बच्चों को न पढ़ा सके और इसके लिए उसे अन्तराष्ट्रीय स्तर पर याचना करनी पड़े। कोई राष्ट्र जो इतने महत्वपूर्ण कार्य के लिए अपनी आर्थिक प्राथमिकताओं को नहीं बदल सकता, वह विदेशों से धन मांगकर या उधार लेकर भी इस काम को पूरा नहीं कर सकता।"